ग्यारहवीं कहानी

रघुवीर सहाय

ग्यारहवीं कहानी

सभ्यता के इतिहास का वह चरम क्षण था। रूस और अमेरिका पृथ्वी के तल पर और उसके गर्भ में, सागर के अतल में और आकाश के अनंत में उपलब्ध संपत्ति का उपभोग करते हुए एक दिन एक-दूसरे के बराबर संपन्न हो गए थे। उन्होंने प्रतिद्वंद्विता के

नियमों को छोड़कर बराबरी के नियमों के अनुसार निश्चित किया कि वे परस्पर मित्र हैं, शत्रु नहीं - जैसा कि सारी दुनिया उन्हें मानती है।

इससे एक संकट उत्पन्न हो गया। कोई समझ नहीं पा रहा था कि इसके बाद क्या होगा? खासतौर से वे तो बिल्कुल ही नहीं जानते थे जो कि अभी तक इन दोनों राष्ट्रों में से किसी एक के मित्र और दूसरे के शत्रु थे। ये तमाम अधनंगे और अधपेट आदमी अपने कष्टों का दोष इनमें से किसी एक पर डालते रहने के इतने आदी हो गए थे कि अब उनके लिए एकाएक यह कह पाना संभव नहीं हो पा रहा था कि दोनों ही एकसमान दोषी हैं। इसके बजाय, जैसा कि बाद के इतिहासकारों ने लक्ष्य किया है, इन अधनंगों और अधपेट लोगों की बुद्धि में इस परिवर्तन का एक लंबा क्रम चला कि पहले के एक की जगह अब दो महाशक्तिशाली राष्ट्र उनके मित्र हैं।

यह क्रम लंबा था तो कुछ इसलिए कि यह प्रतीति भयावह थी कि हमारे शत्रु से हमारा मित्र जा मिला है, कुछ इसलिए कि काफी समय दोनों नए मित्रों ने दुनिया के सारे अधनंगे और अधपेट लोगों का आपस में बँटवारा करने में लगा दिया। उतनी देर तक खासी गपड़ौथ मची रही, क्योंकि सभी अ.अ. समझ रहे थे कि दोनों नए मित्रों में खटपट हो रही है, जबकि यह खटपट नहीं खुसफुस थी।

भ्रांति के इसी दौर में भारत में अकाल पड़ा। भारत ने हस्बमामूल अमेरिका से अनाज माँगा मगर अमेरिका अपना अनाज रूस को दे चुका था। रूस में कई साल से अकाल था, खाली वह अभी तक अमेरिका से माँगता न था। इस बार उसने माँग लिया था और बराबरी के नाते मिल गया था।

पर जब भारतीय लोगों के भूखे मरने की खबर रूस पहुँची तो उसने भारत को अमेरिकी अनाज का एक हिस्सा दे दिया। अब भारत में वह अनाज खाया जाने लगा जो अमेरिका में उपजा और रूस में बोरीबंद हुआ था। बोरी भारत की ही थी।

इस स्थिति की बदौलत भ्रांति सचमुच बहुत भयंकर नहीं होने पाई। अधिसंख्य जन यह सोचकर सुस्थिर हो रहे कि अब भारत की विदेश-नीति दृढ़तर है और हम किसी एक देश के मोहताज नहीं हैं और सचमुच स्वतंत्र हैं।

परंतु अकाल निरंतर बना रहने पर जरूरी नहीं था कि स्वतंत्रता की यह सुखद भावना फैलाता रहे। अकाल निरंतर बना भी रहता तो अनाज तो निरंतर रूस से नहीं आता रहता। आखिर रूसियों को अपने देश में बनी चीजें भी तो निर्यात करनी थीं। सच तो यह है कि अकाल भारत में बना निरंतर ही रहता था, परंतु उसकी जानकारी लोगों को

तभी हो पाती थी जब अनाज आयात किया जाए। सिर्फ मौतों की संख्या से सिद्ध नहीं हो सकता था कि अकाल है क्योंकि लोगों का स्वभाव धीरे-धीरे कम खाकर मरने का था, यह नहीं कि भूख हड़ताल करके मरें। और फिर मौतों के मामले में और भी कई गड़बड़ थे। अनेक कारणों से अनेक और कभी-कभी अनेक कारणों से एक मौत हुआ करती थी। उस समय हजार से ऊपर अदालती जाँचें कितनी ही मौतों के ऊपर बैठी हुई थीं। एक-एक करके वे अपने नतीजे प्रकाशित करतीं। उनसे हर बार यही जाहिर होता कि सिवाय इसके कि मरा हुआ आदमी मर गया, और कुछ सिद्ध करना असंभव था।

सरकार इस दुरवस्था को ध्यान से देखती और सतर्क रहती। वह विश्व-शांति की समर्थक थी। उसके दोनों समर्थक, रूस और अमेरिका भी विश्व-शांति के समर्थक थे। वास्तव में वे शांति के इतने समर्थक थे कि एक के किसी आदमी ने आज तक दूसरे के किसी आदमी को नहीं मारा था। मर तो लोग दूसरे देशों में रहे थे।

धैर्य से काम लेने का एक अच्छा परिणाम हुआ। रूस और अमेरिका के दृष्टांत का प्रभाव भारत में पड़ने का अवसर मिल सका और धीरे-धीरे सभी राजनीतिक दल जो कभी-न-कभी सरकार में शामिल होने के हकदार होते, आपस में भेदभाव भूलकर रूस और अमेरिका की तरह दोस्त होने लगे। सारे भेदभाव राजनीतिक दलों के परस्पर संबंधों से दूर होकर जनसाधारण में चले गए। इससे जनसाधारण में कोई खलबली नहीं मची। ये भेदभाव तो हजारों वर्षों से उनके जाने-पहचाने थे। एक जाति को दूसरी को मार डालने को तैयार होने में बहुत देर नहीं लगी। उसे केवल कुछ वर्षों की शिक्षा ही भुलानी थी। राजनीतिक प्रेक्षकों और टिप्पणीकारों को भी बस इतना ही कहना पड़ा कि हमारे देश में भेदमूलक तत्व हमेशा से रहे हैं और यह कथन बौद्धिक निरपेक्षता से ओतप्रोत होने के कारण बहुत स्वीकृत भी हुआ। केवल पुलिस का काम बढ़ गया था, मंत्रियों की रक्षा के अतिरिक्त तमाम छोटे-मोटे महत्वपूर्ण व्यक्तियों की रक्षा की जिम्मेदारी उस पर आ पड़ी थी। इनकी रक्षा की जरूरत तब पड़ती जब इनके प्रतिद्वंद्वी अधिक जनता को साथ लेकर इन पर धावा बोलते और इनके पास कम जनता होती। इस प्रकार पुलिस को जनता के साथ मिलकर जनता को मारने का एक नया अनुभव हुआ जो कि अंग्रेजी राज में कभी नहीं हुआ था। पर उसका यहाँ विस्तार से वर्णन करने का इरादा नहीं है। बताने लायक तो वह एक विचित्र बात है जो एक दिन सहसा मालूम हुई।

एक दिन एक जवान आदमी, जो न किसी के लेने में था न देने में, एकाएक मर गया। उसने कभी पुलिस का संरक्षण न माँगा था। कोई भीड़ उस पर चढ़ाई करने न आई थी। वह एक साहित्यकार था। वह खूब लिख चुका था और खूब कमा चुका था। कुछ दिनों

से वह एक नई रचना की उधेड़बुन में था जो उसके अब तक के कृतित्व से एकदम विशिष्ट होती। किसी को नहीं मालूम था कि वह क्या लिखना चाहता है। आलोचक इतना ही जानते थे कि इस बार उसके लिए लिखना और भी कठिन होनेवाला है। तभी वह चल बसा।

यह अकेली मृत्यु नहीं थी। एक-एक करके और भी हुईं। कोई कवि था, कोई कहानीकार, कोई नाटककार और कोई उपन्यासकार। सबमें समान गुण यह था कि वे अपने क्षेत्र में सफलता के शिखर पर चढ़ चुके थे और मानो वहाँ यों ही खड़े रहना उनके लिए दुष्कर था; सर के बल नीचे आ रहने के पहले ही वह मानो आकाश में लोप हो गए थे! उन दिनों की तुलना में जब बूढ़े-बूढ़े लोग रूस या अमेरिका की साहित्य परिषदों में सम्मानित होने के कारण बिना कुछ लिखे भी शिखर पर देर तक खड़े रहा करते थे, यह अकेलापन कितना भयावह था।

सरकार चिंतित हो उठी। चिंतित रहना उसका स्वभाव ही था, पर इस बात से वह विशेष रूप से चिंतित थी। पाठकों की और साहित्य की क्षति तो हो ही रही थी - एक नई चुनौती का जवाब देकर दिखाने के ठीक पहले साहित्यकार मरते जा रहे थे - राज्य की भी क्षति हो रही थी। आखिर सिर्फ चित्रकारों और पत्रकारों से तो किसी राज्य की प्रतिष्ठा नहीं बन सकती थी - इनमें से किसी की हठात मृत्यु का होना सुनाई नहीं पड़ रहा था।

इन्हीं दिनों उत्तर प्रदेश के मानिकपुर गाँव में एक अध्यापक रहता था जो एक माध्यमिक विद्यालय में साहित्य पढ़ाता था। और एक सौ पच्चीस रुपए मासिक वेतन और आठ रुपए महँगाई भत्ता पाता था। उसकी पाँच संतानों में से एक, सात वर्ष का शिवकुमार पेट के दर्द का मरीज था। दो बरस का था तभी से उसे महीने में एक बार दुःसह दर्द का दौरा पड़ा करता। वह तिलमिलाकर रह जाता। दिन-भर पेट पकड़े औंधे पड़े रहकर वह दूसरे दिन उठ बैठता। माँ-बाप समझते, अपच होगा। यह दौरा नियमित रूप से हर महीने पड़ता रहा। जब तक लड़का पाँच बरस का हो तब तक दौरा हर सप्ताह पड़ने लगा था। अध्यापक ने निकट के एलोपैथ डॉक्टर का इलाज शुरू किया और साल-भर तक जारी रखा जैसा डॉक्टर ने कहा था। साल-भर में दर्द तो कम हुआ; हाँ, लड़के को दर्द के वक्त खानेवाली दवा की आदत पड़ गई। फिर कुछ महीने एक होम्योपैथ की दवा खाकर, जो कई हफ्ते तक तो सिर्फ एलोपैथी दवाओं के निराकरण के लिए ही दी गई थी, दर्द दूर करने के लिए नहीं, लड़का अपने बाप के साथ दिल्ली के बड़े अस्पताल में इलाज के लिए आया।

पहली बार दिल्ली देखने के कौतूहल से चमकता हुआ चेहरा लिए वह दर्द का अगला दौरा पड़ने के पहले ही अस्पताल पहुँच गया। अब उसे रोज दौरा पड़ता था, अलबत्ता वह रहता थोड़ी देर था। अस्पताल में तीन जगह नाम लिखाने और परची बनवाने में जितना समय लगा वह उसके निकट क्षणों में बीत गया - उसने इतने लोग एकसाथ, इतनी चहल-पहल कभी न देखी थी, भले ही बीमार लोगों की थी। अध्यापक हरिहरनाथ एक चादर में दो कपड़े और माँगे की दो किताबें लाए थे। वह आधुनिक साहित्य स्कूल में तो नहीं पढ़ाते थे, पर खुद पढ़ने के शौकीन थे। तीसरे पहर जब डॉक्टर साहब से भेंट की बारी आई तो उन्होंने किताब बंद करके लड़के को सोते से जगाया और डॉक्टर साहब को एक नौजवान आदमी पाकर कुछ निराश और पाँच बरस के बच्चे का कष्ट देखते-देखते कुछ हताश स्वर में रोग का वर्णन कर सुनाया। संयोग से उसी वक्त लड़के को दर्द उठा। हरिहरनाथ ने आशा से भरकर कहा, 'देखिए, देखिए, देख लीजिए डॉक्टर साहब!'

डॉक्टर विद्यार्थी था। उसने फौरन मरीज को अध्ययन-योग्य समझा और बड़े डॉक्टर के पास भेज दिया।

दूसरे दिन बड़े डॉक्टर से भेंट से पहले बाप-बेटे ने अस्पताल के बरामदे में रात बिताई। दोनों को एक महत्व का अनुभव हो रहा था - अध्यापक को यह कि बड़े डॉक्टर के पास मामला जा रहा है तो ऊँची चिकित्सा सरकार की तरफ से होगी, बच्चे को यह कि उसे एक नई जगह में एक दिन और रहने को मिला है।

बड़े डॉक्टर ने कई प्रकार की जाँच के लिए लड़के को भरती कर लिया। पिता तीन दिन अस्पताल के बरामदे में ही रहा। कितनी ही बेईमानी क्यों न हो, अस्पताल से बच्चे को जो खाना मिलता था वह इतना तो होता ही था कि दो के लिए काफी हो जाए और लड़का तो दर्द के मारे एक वक्त कुछ खा भी नहीं सकता था।

चौथे दिन जब खून, थूक, पेशाब की जाँच हो ली, नुस्खा लिख दिया गया और अगले महीने फिर आकर दिखाने को कह दिया गया तो अध्यापक ने कह-सुनकर बच्चे को शाम तक अस्पताल में ही रखने की इजाजत ले ली और दिल्ली के बड़े-बड़े लेखकों से मिलने चला गया।

वह उनसे पहली बार मिल रहा था। वह उन्हें देखने को उत्सुक था। उनकी रचनाएँ वह बराबर पढ़ता रहा था और अब तो बच्चे के इलाज के लिए फिर दिल्ली आना होगा, इसलिए वह चाहता था कि इस बीच वे जो कुछ लिखें उसे पढ़ने को मिल जाया करे। जो हो, इस बार तो जो भी मिताबें मिल सकीं वह उनसे माँगकर ले आया - इस वायदे

के साथ कि महीने-भर बाद निश्चय ही लौटा देगा। एक महीने बाद उसने किताबें लौटा दीं। छोटे-से घर में तेल और धुएँ से उनका रंग कुछ बिगड़ गया था। पर उन पर उसने एक मोटा बादामी कागज चढ़ा लिया था और जो कुछ बिगड़ा था उसी कागज का बिगड़ा था। लेखक लोग चाहते तो किताब अलमारी में रखने के पहले उसे उतारकर फेंक देते।

बच्चे को इस बार सात दिन अस्पताल में रखा गया। रोग विचित्र था। शिशु विभाग के अध्यक्ष को भी दिखाया गया। उन्होंने अपने एक प्रिय शिष्य को विशेष रूप से इस रोग की पहचान के कुछ गुर बताए। वही दवाएँ देते रहने को कहकर बाप-बेटे को विदा कर दिया गया। बच्चा ऊब चला था, मगर बाप चकित था कि उसके बेटे पर इतना ध्यान दिया जा रहा है।

अगले महीने जब हरिहर दिल्ली आया तो उसने एक लेखक से पढ़ने के लिए किताबें माँगते हुए उसे अपने बच्चे की यातना की कहानी भी सुनाई। बच्चे को अस्पताल की दवा से किंचित लाभ था - हरिहर को ऐसा ही कहना अच्छा लगता था। पर दौरा उसे अब भी रोज पड़ता था। हाँ, नई दवा से वह पहले के मुकाबले जल्दी और कुछ अधिक खर्च में शांत हो जाया करता था। लेखक ने बच्चे को देखने की इच्छा प्रकट की। अस्पताल के बड़े डॉक्टरों की जाँच-पड़ताल खत्म होने पर घर वापस जाते हुए हरिहर बच्चे को लेखक के घर ले आया।

वह पाँव में रबर की चप्पलें और खाकी नेकर पहने था। उसकी कमीज सफेद थी। वह उसके स्कूल की वर्दी थी। पर और स्कूलों की तरह लकदक न होकर यह न जाने क्यों खो रही-सी दिखती थी। वर्दियाँ सभी स्कूलों में होती हैं पर इससे यह तो नहीं होता कि वह वर्दियाँ एक-सी शानदार हो जाएँ। स्कूल वह कुछ ही दिन जा सका था। रोज दर्द के कारण वहाँ रोता था, इसलिए घर बैठा दिया गया था - स्कूल में भरती के साथ-साथ वर्दी बनवानी लाजिमी थी, इसलिए वर्दी तो बन चुकी थी। वह उसकी सबसे अच्छी पोशाक थी - अस्पताल जाने के वक्त वही पहना दी जाती।

लेखक ने लड़के को प्यार किया और उसे बिस्कुट खाने को दिए। उन्होंने लड़के के चेहरे पर उसकी वेदना देखने के लिए उस पर नजर जमाई। लड़का झेंप गया। वह हँसा भी। उसी समय कोई देखता तो उसके चेहरे से कुछ समझ सकता था : अन्यथा वह इतना बोदा रह गया था कि दर्द भी उससे बदा न होता था।

पर धीरे-धीरे वह होशियार हो चला था। अस्पताल के कई तौर-तरीके वह जान गया। किसी बड़े आदमी के यहाँ मिलने को ले जाए जाने पर हर चीज के लिए ललचाना नहीं

चाहिए, यह तो वह डर के मारे जानता ही था। तरह-तरह के नुस्खों और प्रमाणपत्रों को भी वह पहचानने लगा जो डॉक्टरों ने समय-समय पर उसके रोग के संबंध में जारी किए थे। जब उसका पिता भूलने लगता तो वह ठीक कागज उठाकर दे दिया करता। और वह कई बड़े-बड़े लेखकों को भी पहचान गया था जिनके पास उसका पिता उसे ले जाया करता था।

रोग अच्छा होने नहीं आ रहा था। बड़े अस्पताल से भी बड़े एक अस्पताल में चार दिन के लिए भेजा जा चुका था। वहाँ के अध्यक्ष ने एक दिन हरिहर से एक ऐसी बात कही जिसे सुनकर हरिहर को पूरी उम्मीद हो गई कि लड़का अच्छा हो जाएगा।

डॉक्टर ने कहा, 'मैं तुम्हारी और तुम्हारे घर के लोगों की जाँच करना चाहता हूँ। बच्चे का रोग पुश्तैनी जान पड़ता है और इस जाँच से हम उसे अच्छी तरह पकड़ लेंगे।'

सारा परिवार दिल्ली आया। कहना कठिन है कि यह यात्रा बच्चे की माँ के लिए अधिक रोमांचकारी थी कि उसकी बहनों के लिए। दोनों ही पहली बार घर से निकली थीं। अस्पताल में सबको रखा गया। अच्छी तरह दिल्ली घूमना नहीं हुआ, इस खेद को इस आशा के साथ मिलाए-जुलाए कि शिवकुमार का इलाज हो रहा है वे गाँव के घर में लौट गईं।

अध्यक्ष ने अपने तीन सहयोगियों के साथ, सबके नाम और पदों का उल्लेख करते हुए एक विशेष लेख अस्पताल के मुखपत्र में लिखा। इसमें बताया गया था कि एक लड़के को तिल्ली के शोथ का रोग है और वह वंशानुगत है और यही नहीं, भारत में अपनी किस्म का यह अकेला रोगी है। इसी कारण यह लेख महत्वपूर्ण है। विश्व में इस प्रकार के केवल दस रोगी और हैं। इसलिए यह लेख विश्व-स्तर के शोध प्रबंधों में गिनने योग्य है।

हरिहर जानना चाहता था कि अब क्या होगा? डॉक्टर ने कहा, 'कुछ नई दवाएँ लिख दी गई हैं। इस रोग को जड़ से दूर करने की दवा तो विलायत के डॉक्टर भी नहीं निकाल पाए हैं। दवा खिलाते रहो। अस्पताल में रखने की अब जरूरत नहीं है।'

परंतु न मालूम क्यों, यह बात हरिहर की समझ में न आई। जब उसका बच्चा संसार के ग्यारह गिने-चुने रोगियों में से है तो कोई इलाज तो अवश्य होना चाहिए। यह सोचकर वह उलझन में पड़ गया कि इतना विशिष्ट होने पर भी उसके बच्चे के रोग से अब डॉक्टर क्यों उदासीन हैं। बच्चे को विकट यातना रोज मिलती थी। रोज की नई दवा का खर्च भी बड़ा था - दवाओं का दाम इसी बीच बढ़ भी गया था - अस्पताल में

जितने दिन रहता उतने दिन बच्चा मुफ्त दवा पाता - पर अब उसे अस्पताल में रखने का डॉक्टरों के अनुसार कोई कारण ही न था।

साल-भर की दौड़धूप के बाद हरिहर ने पाया कि उसे जो मिला वह महँगा सौदा ही कहलाएगा। पर उसने हिम्मत न हारी। उसने अंग्रेजी के एक-एक शब्द का हू-ब-हू वही हिज्जे करते हुए अस्पताल के मुखपत्र में अपने बच्चे के रोग पर छपे लेख की नकल अपने हाथ से करके रख ली। इसमें शिवकुमार और हरिहरनाथ और उनकी पत्नी और लड़कियों का नाम नहीं दिया गया था। वह उसने हाशिए पर अलग से लाल रोशनाई में लिख लिया। इसे और तमाम पुराने कागजों को लेकर वह एक बार फिर दिल्ली आया। इस बार वह अस्पताल नहीं गया; पंडित सुधाकर मिश्र के यहाँ गया जो कि अच्छे प्रभावशाली संसद-सदस्य थे और स्वास्थ्य मंत्री पर असर डाल सकनेवाले दो-तीन लोगों में गिने जाते थे।

मिश्रजी ने सब कहानी सुनकर पूछा, 'चाहते क्या हो?' हरिहर ने कहा, 'पाँच बरस से बच्चे का इलाज कराते-कराते मैं निर्धन हो गया हूँ और शरीर जर्जर हो रहा है।' मिश्रजी बोले, 'यह तो ठीक है, पर तुम जो चाहते हो वह बताओ। तब मैं बताऊँगा कि वह मैं करा सकता हूँ कि नहीं।' हरिहर नहीं बता पाया। उसे एकाएक अंदाज नहीं मिल रहा था कि इनसे क्या करा देने के लिए कहूँ? जबकि यह शायद सभी कुछ करा दे सकते हैं।

मिश्रजी ने उसे सोच में पड़े देखकर उसे एक और संसद सदस्य, शुक्लजी का नाम बताया जो स्वास्थ्य मंत्री पर असर रखनेवाले बाकी दो-तीन लोगों में से थे।

हरिहर शुक्लजी के घर गया। शुक्लजी बहुत व्यस्त थे, उन्होंने जल्दी से सब सुनकर कहा, 'आप मिश्रजी से क्यों नहीं मिले?' 'उन्होंने आपके पास भेजा है,' हरिहर से यह सुनकर शुक्लजी ने मिश्रजी से फोन मिलाया और पूछा, 'क्या करना है इस आदमी के लिए?' मिश्रजी ने कहा, 'आप ही देख लें।' शुक्लजी हरिहर से बोले, 'कहो तो किसी अस्पताल में चिट्ठी लिख दूँ?' हरिहर फिर सोचने लगा। एक क्षण में सही अस्पताल का नाम बताना था। शुक्लजी बहुत जल्दी में थे; हरिहर हारकर बोला, 'दिल्ली में नहीं हो सकता इलाज, डॉक्टर यही कहते हैं।'

कहा नहीं जा सकता कि वह क्षण परोपकार का था या हड़बड़ी का, पर शुक्लजी ने कहा, 'दिल्ली में नहीं तो देश में और कहीं बताओ...' फिर थोड़ा सोचकर बोले, 'देश में नहीं तो विदेश में ठीक हो सकता है तुम्हारा लड़का?'

हरिहर को एकाएक रोशनी दिखाई दी। दस और रोगी भी हैं विदेशों में। हो क्यों नहीं सकता...?

शुक्लजी हरिहर को अपने सचिव के हवाले करके प्रधानमंत्री के यहाँ चले गए। जब किसी को नहीं मालूम होता कि वह कहाँ गए हैं तो सचिव यही कहता था कि प्रधानमंत्री के यहाँ गए हैं।

विदेश में इलाज कराने की बात कहकर शुक्लजी ने एकसाथ कई काम कर डाले थे। अपनी प्रतिष्ठा को उन्होंने एकाएक साधारण सिफारिशों के स्तर से कहीं ऊँचा उठा दिया था और एक याचक को खाली हाथ लौटाने के बजाय एक बहुत बड़े संसार में भेज दिया था।

परंतु कुछ दिन बाद हरिहरनाथ ने उतने बड़े संसार में दिन-रात एक करके उस पत्र का उत्तर स्वास्थ्य मंत्री के कार्यालय से लिखवा ही लिया जो शुक्लजी ने वहाँ भेजा था। हरिहर बच्चे को गाँव छोड़कर दिल्ली आया और मंत्रालय के एक उपकार्यालय की हिलती कुर्सियों और तेलौंस मेजोंवाले एक कमरे में सवेरे से भूखा रहकर बैठा रहा; वह कोई विरोध नहीं कर रहा था, वह सिर्फ इंतजार कर रहा था कि कब बातें खत्म हों जो चपरासियों, मुंशियों और आने-जानेवाले रिश्तेदारों में बराबर चल रही थीं, और कब उसकी चिट्ठी निकाली जाए। जब वह निकली तो हरिहर दंग रह गया। एक सफेद कागज ने अब एक ग्रंथ का रूप ले लिया था। यह लड़के के सब नुस्खों और जाँच-पत्रों के बादामी पुलिंदे से कहीं बड़ा था।

मंत्रालय के किसी अवर-सचिव के हस्ताक्षर से उसे जो पत्र मिला उसमें लिखा था, 'आपके लड़के का इलाज विदेश में कहाँ हो सकता है, यह बताने की कृपा करें। यदि योग्य डॉक्टर की सलाह है कि उसका इलाज विदेश में कराया जाए तो यह सलाह साथ में भेजें। यह भी बताएँ कि इलाज पर अनुमानतः कितना खर्च आएगा।'

इस चिट्ठी का गौरव ही इतना अधिक था कि हरिहर को क्षण-भर के लिए लगा कि उसका लड़का चंगा हो रहा है। यह पत्र हाथ में लेकर वह बड़े अस्पताल के अध्यक्ष के पास जा खड़ा हुआ।

अध्यक्ष ने पत्र पढ़कर हरिहर को देखा। वह उसे शब्दशः सर से पाँव तक तो नहीं देख रहे थे, पर देख ऐसे ही रहे थे। उन्होंने कहा, 'बच्चे की बीमारी के बहाने विदेश घूमना चाहते हो? मैं तो कह चुका हूँ कि तिल्ली के इस शोथ का इलाज अभी नहीं निकला।'

हरिहर वापस आया। वह नहीं जानता था, क्या करे। यदि डॉक्टर होता तो लाइलाज मर्ज का इलाज सोचने में लग जाता। एक क्षण के लिए उसे दिल में यह औपन्यासिक विचार आया भी कि वह सब कुछ छोड़कर चिकित्सा-विद्या पढ़े और स्वयं एक नया आविष्कार करके ग्यारहों शोथ-पीड़ितों को नीरोग कर दे। पर अपनी तनख्वाह और पाँच बच्चों की याद आते ही वह फिर किसी ऐसे उपाय की खोज में लग गया जो साधारण आदमियों के करने योग्य होते हैं।

अब वह ऐसे किसी योग्य डॉक्टर को खोज रहा था जो यह लिख दे कि उसके लड़के का इलाज विदेश में हो सकता है। एक हितैषी से दूसरे के पास ऐसे डॉक्टर का नाम पूछने जाते-जाते उसे नुस्खों का पुलिंदा एक बोझ लगने लगा। उसके चौपरते कागजात नम होकर एक-दूसरे से चिपक गए थे और 'यह देखिए, यह रहा' कहने के बाद उसकी परतें खोलने में ही इतना वक्त लगने लगा था कि देखनेवाला विषय बदल दिया करता था। कई लोगों ने उसे कई नाम सुझाए। जिसको जिस आदमी की इज्जत बढ़ानी होती वह उसका नाम हरिहर को बता देता। कोई-कोई किसी ऐसे आदमी का नाम बताते जिसे वे चुनौती देना चाहते हों। हरिहर ने नुस्खों को सुरक्षित रखने के लिए एक नामी आदमी के घर से चलते हुए एक पुराना लिफाफा माँगा था। कई लोगों ने तो पुलिंदे पर यह नाम देखकर उसे फिर उसी नामी आदमी के पास जाने की सलाह दी।

हरिहर ने एक रात स्वप्न में देखा - वह लंदन में आ गया है। अपने को सूट और टाई पहने वह कभी सोच भी नहीं सकता था - स्वप्न में भी वह टाई नहीं बाँधे था; हाँ, उसके तन पर एक नया और लंबा कोट था, गले में मफलर, पाँव में मोजे के साथ जूते। शिवकुमार एक लाल-नीली बुनाई का स्वेटर पहने था और उसके हाथ में चमड़े का एक नया बैग था। वह अच्छा हो चुका था और बाप-बेटे दोनों पैदल वापस लौटने निकले थे... स्वप्न में ही उसे दिखा कि कई अन्य देशों के दस रोगी उससे मिलने आए हैं। एकाएक उनकी तैरती हुई अजनबी सूरतें उसे जानी-पहचानी लगने लगीं। तभी वह जाग पड़ा। क्या मैं इन लोगों को चिट्ठी लिखूँ - लिखूँ कि जब कभी तुम्हारे देश में कोई डॉक्टर तुम्हारे इलाज का आविष्कार कर ले तब मुझे लिखना न भूलना...

दूसरे दिन उसने इस विचार में संशोधन किया। जगने के थोड़ी देर बाद तक तो उसे यह विचार सहज लग रहा था, परंतु दिन चढ़ते-चढ़ते वह पहाड़ जैसा हो गया। उन दसों के पते खोजने के लिए उसे फिर बड़े अस्पताल जाना पड़ता और फिर शायद उन सबके पास जिनके पास एक-एक, दो-दो बार हो आ चुका था।

उसकी जान-पहचान के लोगों की फेहरिस्त खत्म हो चुकी थी। उसने बिल्कुल अनजाने दो आदमियों को चिट्ठी लिख डाली। एक अमेरिका के राष्ट्रपति थे और दूसरे सोवियत संघ के प्रधानमंत्री।

हरिहर को कभी कोई जवाब नहीं मिला। दोनों सरकारों के कई विभागों से होता हुआ उसका पत्र दोनों के परराष्ट्र मंत्रालयों के सहायता विभागों में पहुँचा। वहाँ से डॉक्टरों की राय जानने के लिए गया और यह टिप्पणी नत्थी किए हुए लौटा, 'भारत हमारा मित्र राष्ट्र है। हम वहाँ के एक गरीब आदमी को अपने यहाँ बुलाकर उस पर असाध्य रोग की औषधि के अनुसंधान का प्रयोग करें, इसके पहले हमें समझ लेना चाहिए कि यदि रोगी प्रयोग के मध्य मर गया तो भारत में इस बात के राजनीतिक प्रभाव क्या होंगे। निश्चयपूर्वक कहना चाहिए कि बहुत अच्छे प्रभाव होने की आशा नहीं की जा सकती... दाखिल दफ्तर किया जाए।'

यह कहानी मैंने एक प्रसिद्ध और सफल लेखक को सुनाई। वह उन दिनों एक नए उपन्यास के कथानक और शैली से जूझ रहे थे जिसका साहित्य जगत को इंतजार था। मैं उनकी सहसा मृत्यु के विचार से ही काँपता था। उन्होंने कहानी सुनकर कहा, 'अहा, कितनी प्रतीकात्मक है!' उत्तेजना हृदय के हित में नहीं है पर अनजाने ही इस पर मैं गरम हो उठा। मैंने कहा, 'हरिहर यथार्थ है, शिवकुमार यथार्थ है।' उन्होंने कहा, 'होगा, पर असाध्य रोग प्रतीकात्मक है।' 'नहीं,' मैं चिल्लाया, मैंने मेज पर घूँसा मारा, 'वह भी यथार्थ है - वह है और असाध्य नहीं है, वह...'

अकस्मात सामने बैठा लेखक चौंका और कुर्सी पर लुढ़क गया। औरों की तरह वह भी अपनी कीर्ति के शिखर पर खड़े-खड़े सहसा खत्म हो गया था।

https://www.hindiadda.com/gyarahaven-kahani/